शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

वैशाख : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : १

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

वर्ते अंतर शोध

जिसे धर्म करके आत्मा का सुख प्राप्त करना हो और भवभ्रमण के दु:ख से छूटना हो, उसे सभी पक्षा से मनन करके अंतर में शुद्धतत्त्व को ढूँढ़ना चाहिये। सभी पक्षों के विचार में ''मेरा शुद्धतत्त्व'' कैसा है, वही खोजना चाहिये। किसप्रकार खोजना—वह सत्समागम से श्रवण-मनन करके सीखना चाहिये। श्रवण-मनन द्वारा, बारम्बार उसका परिचय करके अंतर में खोजे बिना अन्य किसी उपाय से आत्मा को सुख का पता नहीं मिल सकता। अंतर में ढूँढ़कर पता लगाना चाहिये। अंतर की वस्तु बाहर ढूँढ़ने से नहीं मिल सकती। अंतर में ढूँढ़े तो अपनी वस्तु अपने से दूर नहीं है।

[—चर्चा से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१३३

एक अंक
चार आना

श्रीजैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ [सौराष्ट्र]

धर्म की दुकान

जिसे धर्म करना हो, उसे इस बात की खोज करना चाहिये कि धर्म मिलेगा कहाँ से ? जहाँ जो माल भरा हो, वहाँ से वह मिलता है। इस शरीर की दुकान में तो जड़ का माल भरा है, उसकी क्रिया में से आत्मा के धर्म का माल नहीं मिल सकता। और चैतन्यमूर्ति आत्मा की दुकान में ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुणों का भंडार भरा है, उसमें से ज्ञानादि धर्मों का माल मिलेगा, किन्तु विकार का या जड़ की क्रिया का माल उसमें नहीं मिल सकता।

जिसप्रकार अफीमवाले की दुकान पर अफीम ही मिलती है; हीरा-मोती या मावा वहाँ नहीं मिल सकते और, हलवाई की दुकान पर मावा, तथा जौहरी की दुकान पर हीरा-मोती मिलेंगे, वहाँ अफीम नहीं मिल सकती। उसी प्रकार जिसे अफीम जैसे विकारी शुभाशुभभाव लेना हों, उसे वे आत्मा के स्वरूप में नहीं मिल सकते; इसलिये जिसे विकार की रुचि होगी, वह आत्मा की दुकान पर क्यों जायेगा ? और विकारी भाव या जड़ की क्रिया तो अफीम की दुकान जैसे हैं, उनमें से चैतन्य के निर्मल धर्मरूपी जवाहिरात नहीं मिल सकते; इसलिये धर्मात्मा उनकी रुचि क्यों करेंगे ?

विकार में या जड़ में आत्मा का धर्म नहीं है; और आत्मा के स्वरूप में विकार का या जड़ का संग्रह नहीं है। आत्मा में अपनी अनन्त निर्मल शक्तियों का भंडार है, उसी में से धर्म मिल सकता है। इसलिये जिसे धर्म करना हो, उसे चैतन्यस्वरूप आत्मा की दुकान में जाना चाहिये अर्थात् अंतर्मुख होकर उसकी श्रद्धा; ज्ञान और एकाग्रता करना चाहिये। इसके सिवा अन्यत्र कहीं से धर्म प्राप्त नहीं हो सकता।

(- शक्तियों के प्रवचन से)

आत्मधर्म

वैशाख : २४८२ ☆ वर्ष बारहवाँ ☆ अंक : १

मानस्तम्भ-प्रतिष्ठा का
वह
धन्य महोत्सव

परम प्रभावक पूज्य गुरुदेव के पुनित प्रताप से तीर्थधाम सोनगढ़ में त्रेसठ फुट ऊँचे भव्य मानस्तम्भ की रचना हुई; और तीन वर्ष पहले भव्य महोत्सवपूर्वक चैत्र शुक्ला १० वीं के दिन उसमें सीमंधर भगवान की प्रतिष्ठा हुई। प्रतिष्ठा-महोत्सव की वर्षगाँठ के प्रसंग उस मंगल महोत्सव की ऊर्मियाँ सद्य हो रही हैं।

इस मानस्तम्भ की भव्यता को देखकर भक्तजनों का हृदय आनन्द से भर जाता है और अंतर में ऐसी ऊर्मियाँ उठती हैं मानो महोविदेहक्षेत्र के ही मानस्तम्भ के दर्शन हो रहे हैं! और ऊपर आकाश में विराजमान सीमंधर भगवान के दर्शनों जितना संतोष होता है! ऐसे पावन मानस्तंभ की छाया में आते ही शांत.. शांत लहरियों से हृदय अत्यन्त विश्रान्ति का अनुभव करता है।

मानस्तंभ के लिये अनेक भक्तजनों के अंतर में बहुत वर्षों से जो भावना थी, वह अन्त में सफल हुई। हजारों भक्तजनों ने महान उल्लास से मानस्तंभ महोत्सव मनाया। अहो! उन दिनों नगरी की शोभा; भगवान नेमिनाथ भगवान का गर्भ कल्याणक और फिर जन्म; भव्य गजयात्रा और जन्माभिषेक; पालना-झूलन और राजसभा, बारात और पशुओं की पुकार; भगवान का वैराग्य और

राजुल की भावना; आम्रवन में दीक्षा कल्याणक और वहाँ गुरुदेव के प्रवचन में वैराग्य की धुन, भगवान के आहारदान का अद्‌भुत प्रसंग, और गुरुदेव के हस्त से अंकन्यासविधि, केवलज्ञान-कल्याणक और समवशरण-भक्ति, निर्वाणधाम गिरनारजी का दृश्य, अन्त में ऊपर-नीचे चतुर्दिश सीमंधर भगवान की प्रतिष्ठा और अंतिम भव्य रथयात्रा;—इन सब मंगल प्रसंगों की पंक्ति दृष्टि के समक्ष तैरने पर आज भी भक्ति के उल्लास से हृदय में हर्ष होता है। वास्तव में

''कल्याणकाल प्रत्यक्ष प्रभु को लखें जे सुरनर घनें
तिह समय की आनन्द महिमा कहत क्यों मुखसों बनें?''

प्रतिष्ठा के पश्चात् मंत्र द्वारा उच्च मानस्तंभ की यात्रा करते हुए भक्तों को आनन्द होता था.. ऊपर के शांत वातावरण में जब पूज्य गुरुदेव भक्ति गवाते थे, उस समय चारों ओर भक्तों के हृदय भक्तिरस में मग्न हो रहे थे।

भारत में अनेक स्थानों पर मानस्तंभ हैं; किन्तु सौराष्ट्र में तो इस समय एक ही मानस्तम्भ है। गुरुदेव के अद्‌भुत प्रभाव से स्थापित यह धर्मस्तम्भ दशों दिशाओं में जैनधर्म का जयगान प्रसारित कर रहा है। इसके दर्शन होते ही भक्ति से नम्रीभूत होकर हृदय पुकार उठता है कि अहो! धन्य यह जिनेन्द्रवैभव!! धन्य यह मानस्तंभ! धन्य यह महोत्सव!!

'६७' वीं वर्षगाँठ पर पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से जो रत्नवृष्टि हुई उसमें के '६७' रत्न

[प्रवचनसार गाथा २७]

[१] यह जो ज्ञान है, सो आत्मा है; ज्ञान अर्थात् ज्ञाता स्वभाव ही आत्मा है;—ऐसा जिनदेव का मत है।

[२] जो ज्ञाता स्वभाव है, उसकी आत्मा के साथ तद्रूपता है; अन्य किसी के साथ नहीं।

[३] आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभावरूप से परिणमित होना जानता है; वह स्वयं परिणमित होकर केवलज्ञानरूप होता है।

[४] ज्ञान की आत्मा के साथ एकता है, इसलिये आत्मा में अंतर्मुख होकर जानना ज्ञान का स्वभाव है।

[५] सर्वज्ञदेव का ऐसा मत है कि आत्मा स्वयं ज्ञान है, ज्ञान की एकता आत्मा के ही साथ है।

[६] पर के साथ ज्ञान की एकता नहीं है, इसलिये आत्मा को पर सम्बन्ध से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती।

[७] ज्ञान का सम्बन्ध होने से आत्मा ज्ञानवान् है—ऐसा नहीं है, किन्तु वह स्वयं ज्ञाता स्वभावी होने से ज्ञान है।

[८] आत्मा के अतिरिक्त राग के या पर के सम्बंध से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

[९] आत्मा के अतिरिक्त राग के या पर के साथ ज्ञान कभी एकरूप हुआ ही नहीं।

[१०] ज्ञान की अपने आत्मा के साथ त्रिकाल एकरूपता है, उससे कभी पृथक्ता नहीं है।

[११] आत्मा और ज्ञान का अनादि-अनंत स्वभावसिद्ध समवाय-सम्बन्ध है, अर्थात् ज्ञान और आत्मा की स्वभाव से ही एकता है।

[१२] देखो, यह जिनेन्द्रभगवान का मत! जो इसे समझ ले उसने जैनमत को समझ लिया है।

[१३] भाई! तेरे ज्ञान का आत्मा के साथ त्रिकाल एकतारूप तादात्म्य सम्बन्ध है।

[१४] तेरे ज्ञान का पर के साथ तो क्षणमात्र भी तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है—सदैव भिन्नता ही है।

[१५] पुनश्च, तेरी पर्याय में जो रागादिभाव है, उसके साथ आत्मा का समयमात्र का अनित्य तादात्म्य सम्बन्ध है।

[१६] किन्तु उस रागादिभाव का भी पर के साथ तो एक समय का अनित्य तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं है।

[१७] आत्मा का पर के साथ क्षणिक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध [एकता] तो है ही नहीं।

[१८] इतने सम्बन्धों में आत्महित के लिये कौन-सा सम्बन्ध आदरणीय है?—वह समझाते हैं।

[१९] पर के साथ एकता का सम्बन्ध तो कभी है ही नहीं, इसलिये उसकी बात नहीं करते।

[२०] विकार के साथ क्षणिक सम्बन्ध है, वह आदरणीय नहीं है, क्योंकि उस सम्बन्ध जितना आत्मा नहीं है।

[२१] आत्मा के साथ ज्ञान की एकता का जो स्थायी सम्बन्ध है, वही आदरणीय है;—ऐसा जिनेन्द्र भगवान का मत है।

[२२] ऐसा समझकर पर्याय को अंतर्मुख करके जिसने आत्मा के साथ एकता की, उसने जिनमत को जान लिया।

[२३] इसे समझकर ज्ञानस्वभावी आत्मा में एकता.. एकाग्रता का होना, वह धर्म है।

[२४] देखो, यह अन्तरोन्मुख होने की बात है; इसमें एकाग्र होकर समझना, वह कल्याण का मार्ग है।

[२५] अंतर में एकाग्र होकर समझने के समय जिसे हँसी-ठट्ठा सूझता है, वह जीव ज्ञान की महा विराधना करता है।

[२६] देखो, यह सुखी होने का मार्ग!!

[२७] आत्मा आनन्दस्वरूप है; अंतर में ज्ञान और आत्मा की एकता का अवलम्बन करने से अपूर्व आनन्द का अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा।

[२८] ज्ञान को अंतरोन्मुख करके जहाँ आत्मा के साथ एकता का अनुभव हुआ, वहाँ अपूर्व आनन्द का वेदन होता है।

[२९] अतीन्द्रिय आनन्द कहो... सम्यक्त्व कहो.. या धर्म कहो, यह कैसे होता है, उसी की यह बात है।

[३०] आत्मा वस्तु है, उसका त्रिकाली ज्ञानस्वभाव है।

[३१] उस ज्ञानस्वभावी आत्मा के साथ एकता करने से पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द उल्लसित होता है।

[३२] देखो, यह है सम्यक्त्व का उपाय... आनन्द का उपाय.. धर्म का उपाय.. अपूर्व हित का उपाय।

[३३] ज्ञान आत्मा का अति निकटरूप से अवलम्बन लेकर अभिन्न प्रदेशरूप से विद्यमान है।

[३४] ऐसा स्वरूप समझकर एकबार अंतर से उल्लास लाये तो बेड़ा पार हो जाये।

[३५] उल्लासमान वीर्यवंत इसे समझने का पात्र है।

[३६] बाह्य सामग्री-पैसादि की बात सुनकर आनन्दित होता है, किन्तु उसमें कहीं आत्मा का हित या शांति नहीं है।

[३७] भगवान आत्मा शांति का भंडार है, उसका उल्लास लाये तो उसमें से शांति प्रगट हो।

[३८] जो ज्ञान और आत्मा की ऐसी एकता समझाते हों, वे ही सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं।

[३९] जो बाह्य-आश्रय से ज्ञान का लाभ होना बतलाते हैं, वे देव-गुरु-शास्त्र सच्चे नहीं हैं।

[४०] आत्मा के साथ ज्ञान की एकता का प्रयोग 'केलव' [कर] तो 'केवलज्ञान' की प्राप्ति होगी - ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं।

[४१] रागादि के अवलम्बन से ज्ञान की वृद्धि होगी—ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं।

[४२] ज्ञान के साथ एकमेक आत्मा, सुखादि अनन्त स्वभावों का भी आधार है।

[४३] इसलिये आत्मा में एकता होने से ज्ञान के साथ सुख, श्रद्धादि अनन्त स्वभाव विकसित होते हैं।

[४४] ज्ञान की भाँति श्रद्धा, सुखादि गुणों के साथ भी आत्मा एकत्वरूप से परिणमित हो रहा है।

[४५] देखो, इसमें से कुछ समझ में आता है ?

[४६] आत्मा एक साथ अनन्त स्वभावों रूप से परिणमित होता है, इसलिये आत्मा ज्ञान भी है, आत्मा सुख [आदि] भी है।

[४७] भगवान! अपने अनंतधर्मों के साथ तेरी एकता है—वही तेरा स्वरूप है।

[४८] ऐसे आत्मा की ओर दृष्टि किये बिना बाह्य में अन्यत्र कहीं उद्धार का मार्ग नहीं है।

[४९] एक समय की पर्याय में विकार के साथ क्षणिक संबंध है, किन्तु उतना आत्मा नहीं है।

[५०] त्रैकालिक स्वभाव की दृष्टि से तो विकार के साथ भी अनित्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही है-एकता नहीं है।

[५१] आत्मा अनन्त स्वभावधर्मों का आधार है, उसमें विकार का अत्यन्त अभाव है।

[५२] स्वभाव में अत्यन्त अभाव होने से विकार के साथ आत्मा की एकता नहीं है, इसलिये उसका सम्बन्ध छूट सकता है।

[५३] परदेश में किसी के साथ क्षणिक सम्बन्ध बाँधा हो, वह स्वदेश में आने पर छूट जाता है।

[५४] उसी प्रकार संसार में परभावों के साथ जो क्षणिक सम्बन्ध है, वह स्वभाव में नहीं है, इसलिये स्वभावदृष्टि में वह छूट जाता है।

[५५] भाई! ज्ञान, सुख आदि अनंतधर्मों का आधार तेरा आत्मा है।

[५६] 'ज्ञान' धर्म द्वारा आत्मा ज्ञान है।

[५७] 'सुख' धर्म द्वारा आत्मा सुख है।

[५८] 'प्रत्यक्ष संवेदन' रूप धर्म द्वारा आत्मा प्रकाश है।

[५९] 'प्रभुता' धर्म द्वारा आत्मा परमेश्वर है... [इत्यादि]

[६०] इसप्रकार अनन्तधर्मों के साथ एकतारूप आत्मा है, इसलिये अनेकान्त बलवान है।

[६१] भगवान सर्वज्ञदेव की ध्वनि से प्रवचन प्रगट हुए, उनका सार इस प्रवचनसार में है।

[६२] आत्मा के अनन्त धर्मों में 'ज्ञान' विशेष स्वभाव होने से 'ज्ञान, सो आत्मा'—ऐसा कहकर ज्ञान की पहिचान कराई है;

[६३] किन्तु एकान्त ज्ञान ही आत्मा नहीं है; आत्मा तो अनन्त धर्मों के आधारभूत हैं।

[६४] ऐसा जिनेन्द्रभगवान का अनेकान्तमार्ग है।

[६५] इसे समझकर पर से सम्बन्ध तोड़ना... और आत्मा के सम्बन्ध जोड़ना, वह अपूर्व धर्म है।

[६६] ऐसे आत्मा को समझे, उसका जन्म सफल है।

[६७] ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव का निश्चय होते ही सर्व समाधान की दृष्टि होती हैं।

*** ६७ वें वर्ष के यह ६७ रत्न जयवन्त वर्तें ***

यह है गुरुदेव की जन्मभूमि—
जहाँ आनन्द का जन्म हुआ है।

यह वैशाख शुक्ला २ पूज्य गुरुदेव के जन्म का मंगलदिवस है! इस आनंदप्रसंग पर पूज्य गुरुदेव के ही श्रीमुख से निकला हुआ आनंद की जन्मभूमि दर्शानेवाला प्रवचन प्रकाशित करते हुए हमें आनंद होता है।

''भगवान परमात्मा के सुखाभिलाषी जीव को शुद्ध अंत:तत्त्व के आनन्द का जन्मभूमिस्थान जो निजशुद्ध जीवास्तिकाय, उससे उत्पन्न होनेवाला जो परमश्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन है।'' देखो, यह आत्मा के आनन्द का जन्मभूमि स्थान! इसमें सम्यग्दर्शन की अलौकिक व्याख्या है। आत्मानन्द का जन्मभूमि स्थान जो शुद्ध जीवास्तिकाय, उसी में से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है; कहीं बाह्य आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

यह भगवान परमात्मा स्वयं अतीन्द्रिय सुख का सागर है; उस परमात्मा के सुख का जो अभिलाषी है—ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन होता है, उसकी यह बात है; सम्यग्दर्शन होते ही उसके आनन्द विलास का जन्म होता है। उस आनन्द का जन्मभूमि स्थान कौन-सा है ?—कहते हैं कि अपना शुद्ध जीवस्वभाव ही उस आनन्द की उत्पत्ति का जन्मभूमिस्थान है। ऐसे शुद्ध आत्मा की परम श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन होते ही, भगवान सिद्धपरमात्मा को जैसा सुख है, वैसे ही सुख का अंश सम्यक्त्वी के वेदन में-स्वाद में आ जाता है। अहो! मेरे आत्मा के असंख्यप्रदेश ऐसे ही आनन्द से भरपूर हैं;—ऐसी अंतर्मुख प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है। अतीन्द्रिय आनन्द की उत्पत्ति का धाम ऐसी जो शुद्ध जीवसत्ता है, उसकी निर्विकल्प प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है।

अपना असंख्यप्रदेशी शुद्धजीवास्तिकाय, वह शुद्ध अंतर्तत्त्व के विकास का-आनन्द का जन्मभूमिस्थान है;—किन्तु उस आनन्द का जन्म किसके होता है ?—जो जीव भगवान परमात्मा के सुख का अभिलाषी है उसे। जिसे इन्द्रिय विषयों की या पुण्य की मिठास नहीं है किन्तु शुद्धतत्त्व के आनन्द की ही अभिलाषा है—ऐसा जीव अन्तर्मुख होकर आनन्द का अनुभव करता है। शक्ति में से आनन्द का नया जन्म होता है। उस आनन्द की उत्पत्ति की जन्मभूमि कौन-सी ?—निजशुद्ध जीवास्तिकाय असंख्य प्रदेशी, वही आत्मा के आनन्द की जन्मभूमि है।

देखो, यह जन्मभूमि! जो उदर में भरा हो, उसी का जन्म होता है; उसी प्रकार आत्मा के अंतर-उदर में आनन्दस्वभाव भरा है, उसी में से आनन्द का जन्म होता है। अरे जीव! बाह्य में तेरा आनन्द नहीं है, तेरा आत्मा ही तेरे आनन्द की जन्मभूमि है। अंतरंग आनन्द के विकास का उत्पत्तिस्थान अपना परमात्मतत्त्व ही है। उससे उत्पन्न होनेवाली जो परम श्रद्धा है, वह सम्यग्दर्शन है। अहो! ऐसा सम्यग्दर्शन होने से आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में आनन्द का जन्म हुआ; असंख्य प्रदेश सुख में निमग्न हो गये। आनन्द का जन्मधाम असंख्य प्रदेशी निज-परमात्मतत्त्व ही सम्यग्दर्शन का कारण है। इसमें यह बात भी आ गई कि सम्यग्दर्शन होने से ऐसे आनन्द का जन्म होता है; असंख्य प्रदेशों में अंशतः शुद्धता प्रगट हो जाती है। अंतर्स्वभाव के आश्रय से जो सम्यक्श्रद्धा प्रगट हुई, उसे "परम श्रद्धान" कहकर यहाँ मोक्षमार्ग का निश्चयसम्यग्दर्शन बतलाना है। अंतर में ऐसी दशा प्रगट करे, तब तो चौथे गुणस्थान का अविरति सम्यग्दृष्टि होता है और उसके धर्म का प्रारम्भ होता है। ऐसे निश्चय सम्यग्दर्शन बिना मोक्षमार्ग का या धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

सम्यग्दर्शन होने की योग्यता में यहाँ ''भगवान परमात्मा के सुख का अभिलाषी जीव'' लिया है! मूढ़ अज्ञानी जीव, शरीर का सुख, कुटुम्ब का सुख, खान-पान का सुख, पैसे का सुख;—इसप्रकार इन्द्रिय विषयों में सुख; मानते हैं; किन्तु ''भगवान परमात्मा का सुख'' कैसा होता है, उसे जानते भी नहीं! बाह्य विषयों से रहित परम आत्मिक सुख... अतीन्द्रिय सुख... उसकी जिसे अभिलाषा है—ऐसे जीव को आनन्द की जन्मभूमि रूप अपने शुद्ध आत्मा की श्रद्धा द्वारा सम्यग्दर्शन होता है... और वह सम्यग्दर्शन होने से अपूर्व आनन्द का जन्म होता है। इसप्रकार आनंद की जन्मभूमि में उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय का जन्म हो, वह कर्तव्य है।

''जय हो... उस आनन्दभूमि में उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय आनन्द की...''

''जय हो उस आनन्द का उपभोग करनेवाले सद्गुरु देव की...''

दो बोल

(१) प्रत्येक वस्तु में अपने परिणामस्वभाव के कारण पर्याय होती है, अन्य के कारण नहीं।

(२) आत्मा को अपने शुद्धस्वभाव के आधार से धर्म होता है, व्यवहार के या किसी अन्य के आधार से नहीं।

—उपरोक्त दोनों बातों का भलीभाँति निर्णय करे तो स्वभाव के आधार से परिणमित होकर पर्याय स्वयं धर्मरूप हो जाये।

[-पूज्य गुरुदेव]

''जैन गगन में सुवर्ण के सूर्य का उदय''

'सुवर्ण का सूर्य' और उसका दिव्य प्रकाश

[आज से ६५ वर्ष पहले... वैशाख शुक्ला २, रविवार के दिन]

जैनशासन के पुनीत गगन में आज एक जगमगाते हुए चैतन्यभानु का उदय हुआ... आज सुवर्ण का सूर्य उदित हुआ।

जैन गगनभानु कहान गुरुदेव की पवित्र मुद्रा चैतन्य तेज से चमक रही है; आनन्दमय सुप्रभात वहाँ सुशोभित हो रहा है और उस सूर्य की वचनकिरणें आत्मिक शौर्य की जगमगाहट से भव्य जीवों के लिये मुक्ति का मार्ग प्रकाशित कर रही हैं। वे सूर्यकिरणें अपूर्व चमक भरी और शौर्यप्रेरक हैं; विभावों के पर्दे को भेदकर वे अंतर के परमात्मस्वरूप को प्रकाशित करती हैं, और उस परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये जीव के शौर्य को उछालती हैं कि अरे जीव! तेरा आत्मा निर्बल या तुच्छ नहीं है, किन्तु सिद्ध परमात्मा जैसे पूर्ण सामर्थ्यवाला प्रभु है... उसके लक्ष से अपने आत्मवीर्य को बढ़ा। अहो! जिस ज्ञानभानु की एक वचन किरण में इतना आत्मतेज प्रकाशित हो रहा है, उसके अंतर की जगमगाहट कैसी दिव्य आनन्दमय होगी!! सचमुच ज्ञानभानु गुरुदेव ने अपने दिव्य ज्ञानप्रकाश द्वारा जैनशासन के आकाश को जगमगाया है और घोर अज्ञान-अंधकार को दूर करके आनन्दमय सुप्रभात प्रगट किया है।

हे साधर्मी बन्धुओं! चलो, सुप्रभात के उस स्वर्णिम सूर्य का भक्तिदीपक से सन्मान करें और उसकी दिव्य किरणें झेलकर आत्मा में ज्ञानप्रकाश प्रगट करें!

जैनशासनरूपी आकाश में दिव्य प्रकाश करके आनन्दमय सुप्रभात बिखेरता हुआ यह चैतन्यभानु सदैव जाज्वल्यमान रहे!

जैन-गगन का यह सुनहरा सूर्य सहस्र किरणों से सैदव मुक्तिमार्ग को प्रकाशित करता रहे...

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

[१९]

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ठ में आचार्यदेव ने ४७ नयों से आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार।

(अंक १२९ से आगे)

यह कौन-सा विषय चल रहा है ?-जिसे स्वर्गादि संयोग को प्राप्त करने की इच्छा नहीं है किन्तु आत्मा का स्वरूप जानकर उसी को प्राप्त करने की भावना है,—ऐसे जिज्ञासु शिष्य ने पूछा है कि हे भगवन्! यह आत्मा कैसा है और कैसे उसकी प्राप्ति होती है? वह समझाइये। प्रभो! जिसे अनादि से नहीं जाना है—ऐसे आत्मा का स्वरूप जानकर मैं उसे प्राप्त कर लूँ और संसार परिभ्रमण का अंत होकर मेरी मुक्ति हो—ऐसा उपाय मुझे बतलाइये!—ऐसी जिज्ञासावाले शिष्य को आचार्यदेव, आत्मा का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं, उसका यह वर्णन चल रहा है। यदि आत्मा के धर्मों द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप को जान ले तो उसमें एकाग्र होकर उसकी प्राप्ति करे और मुक्ति हो जाये। इसलिये संसार परिभ्रमण से छूटना हो और आत्मा की मोक्षदशा प्राप्त करना हो, उसे आत्मस्वरूप को पहिचानना चाहिये।

[३४] ईश्वरनय से आत्मा का वर्णन

''आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतंत्रता भोगनेवाला है;—धाय की दुकान पर दूध पिलवाये जानेवाले मुसाफिर के बालक की भाँति!''

साधक को स्वभाव की दृष्टिपूर्वक पर्याय का ज्ञान होता है; वह जानता है कि मेरी पर्याय में जितने रागादि होते हैं, उतनी मेरी परतन्त्रता है; वह परतन्त्रता पर के कारण नहीं है, किन्तु मेरी पर्याय में ही परन्तत्रता होने का वैसा धर्म है। अस्थिरता के कारण कर्म के उदय में युक्त होने से विकार होता है, वहाँ धर्मी को अपने चैतन्य के ईश्वरत्व का तो भान है और विकार हुआ, उसमें कर्म को ईश्वरत्व देकर कहते हैं कि कर्म के आधीन विकार होता है!—ऐसा जानना वह ईश्वरनय है। वस्तु की दृष्टिपूर्वक यह नय है। स्वभाव के बड़प्पन का भान रखकर पर्याय की निर्बलता को

धर्मी जानते हैं कि अभी मेरी पर्याय में मलिन पुरुषार्थ से इतनी पराधीनता होती है। मैं कर्माधीन होकर विकार करता हूँ, वह मेरा एक समय की पर्याय का धर्म है। दृष्टि के विषय में तो ऐसा आता है कि विकार को आत्मा करता ही नहीं है; किन्तु यहाँ प्रमाणपूर्वक के नयों का वर्णन है; इसलिये पर्याय के विकार को आत्मा स्वयं पराधीन होकर करता है—ऐसा ज्ञान कराया है। आत्मा स्वयं परतन्त्र होकर पर्याय में विकार करे—ऐसा उसका धर्म है; किन्तु कर्म इस जीव को जबरन विकार कराये—ऐसा धर्म तो पर में नहीं है और आत्मा में भी नहीं है। साधक को अपनी पर्याय में अभी पूर्ण वीतरागता नहीं है किन्तु साधकत्व है; और साधकदशा में बाधकभाव भी साथ वर्तता है; और वह बाधकभाव पराश्रय से होता है, इसलिये उतनी आत्मा की परतन्त्रता है—ऐसा धर्मी जानता है।

(१) यदि स्वाश्रय सम्पूर्ण हो गया हो तो सर्वज्ञता हो जाये और विकार किंचित्मात्र न रहे; और वहाँ नय भी न हो।

(२) यदि स्वाश्रयभाव बिलकुल न हो, अकेला पराश्रयभाव ही हो तो मिथ्यादृष्टिपना हो; उसके भी नय नहीं होगा।

(३) जिसके सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान का स्वाश्रयभाव विकसित हुआ है और अभी चारित्र में अशंत: पराश्रयभाव भी वर्तता है - ऐसे साधक जीव की यह बात है। वह जीव अपनी पर्याय की पराधीनता को जानता है, तब उसके ईश्वरनय होता है। उस समय भी साधक की दृष्टि तो पूर्ण शुद्ध स्वभाव पर ही पड़ी है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी धर्मात्मा को राग-द्वेष होता है; वहाँ वह अपनी पराधीनता समझता है। पर के कारण वह विकार हुआ है—ऐसा नहीं मानते, किन्तु अपना अपराध समझते हैं; अपने में अभी पराधीनता होने की उतनी योग्यता है—ऐसा जानते हैं। आत्मा में यह परतन्त्रता भोगने का धर्म त्रिकाली स्वभावरूप नहीं है किन्तु क्षणिक पर्याय के आश्रित है।

यहाँ जिन धर्मों का वर्णन किया है उनमें से कुछ धर्म त्रिकाली स्वभावरूप हैं और कुछ क्षणिक पर्यायरूप हैं। कुछ धर्म ऐसे हैं कि जो साधकदशा में होते हैं और फिर नहीं होते। इसप्रकार यह धर्म अपेक्षित हैं; सभी जीवों को यह समस्त धर्म लागू नहीं होते। यहाँ साधक जीव किस नय से कैसे धर्म को जानता है, उसका वर्णन है।

धर्मी जानता है कि मेरा आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है; राग मेरा स्वभाव नहीं है; मेरे स्वभाव के आश्रय से राग नहीं होता; राग, पर के आश्रय से होता है; इसलिये वह परतन्त्रता है, और

आत्मा स्वयं कर्ता होने से उस परतन्त्रता को भोगनेवाला है। इसप्रकार स्वभाव की स्वतंत्रता और पर्याय की अमुक परतन्त्रता, दोनों का ज्ञान करके धर्मी अपने स्वभाव में ढलता जाता है और बाधकभावरूप परतन्त्रता को तोड़ता जाता है।

जिसप्रकार—बालक माता की गोद में होता है, तब उसे जब दूध पीना होता है पी लेता है—वहाँ वह स्वतन्त्र है; किन्तु माता की गोद से निकलकर बाहर गाँव में गया हो तो अमुक समय ही धाय माता के यहाँ दूध पिलवाया जाता है; इसलिये वहाँ वह परतन्त्ररूप से दूध पीनेवाला है। उसी प्रकार माता अर्थात् शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वभाव; उसकी गोद में रहे अर्थात् स्वभाव का आश्रय करके उसमें लीन रहें तो वह आत्मा परतंत्र नहीं होता, किन्तु स्वाधीनरूप से अपने आनन्द का उपभोग करता है। परन्तु जहाँ स्वभाव की गोद में से बाहर निकलकर पर का आश्रय किया, वहाँ परतन्त्ररूप से रागादि का उपभोग करता है। इसलिये ईश्वरनय से आत्मा परतन्त्रता भोगनेवाला है। यदि स्वभाव का आश्रय करने से संपूर्ण ईश्वरत्व प्रगट हो जाये तो परतन्त्रता न रहे और ईश्वरनय लागू न हो। किन्तु अभी स्वभाव का पूर्ण ईश्वरत्व प्रगट नहीं हुआ है और अंशतः पर का आश्रय होता है, उतनी पराधीनता है; उस पराधीनता में आत्मा स्वयं पर को बड़प्पन-ईश्वरत्व देता है, इसलिये ईश्वरनय से वह परतन्त्रता भोगनेवाला है। धर्मी ने अपने चैतन्यस्वभाव के ईश्रत्व को जानकर उसका आश्रय तो किया है किन्तु अभी पूर्ण आश्रय नहीं लिया है; इसलिये कुछ पराश्रय भी होता है; उतनी अपनी पराधीनता है। स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को जो समझा है, वह इस पराधीनता को भी जानता है। पर्याय की पराधीनता वह ईश्वरनय का विषय है और सारा आत्मद्रव्य, वह प्रमाण-नय का विषय है। प्रमाण से जाने या नय से जाने, किन्तु उस सबका सार तो शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होना ही है।

पर्याय में परतन्त्रता भोगने की आत्मा की योग्यता है, वह भी एक धर्म है; इसलिये कर्म के उदयानुसार जीव को विकार करना पड़ता है—ऐसा नहीं है; कर्म, आत्मा को पराधीन नहीं करता, किन्तु आत्मा स्वयं पर को ईश्वरत्व देकर (पर का आश्रय करके) पराधीनता भोगता है। धर्मी की दृष्टि में तो शुद्ध चैतन्यपिण्ड का ही आश्रय वर्तता है, किन्तु अभी चारित्र में विकार होता है, वह निमित्त के आश्रय से होता है; उतना निमित्त की ओर झुकाव है, वह विभाव की ईश्वरता है। स्वभाव की दृष्टि में अपने ईश्वरत्व का भान रखकर, पर्याय में जो विकार होता है, उतनी अपनी पराधीनता है-ऐसा धर्मी जानता है। किन्तु परद्रव्य जबरन जीव को विकार कराता है—ऐसा कोई धर्म आत्मा में

या परद्रव्य में नहीं है। स्वभाव के स्वतन्त्र ईश्वरत्व-प्रभुत्व को चूककर, अकेले निमित्त को ही ईश्वरत्व देकर उसकी ओर देखता रहे, उसे ऐसा ईश्वरनय नहीं होता। यहाँ तो, जिन्हें आत्मा की प्रभुता का भान हुआ है—ऐसे ज्ञानी कभी-कभी ईश्वरनय से ऐसा कहते हैं कि यह जो राग-द्वेष होते हैं, वे मेरे स्वभाव के ईश्वरत्व से नहीं होते किन्तु निमित्त के-कर्म के बड़प्पन से होते हैं, और उतना पराधीनता का उपभोग है। कर्म की बलजबरी से विकार हुआ-ऐसा भी कहा जाता है; किंतु ऐसा कहनेवाले की दृष्टि कहा होती है ? विकार रहित शुद्ध चैतन्यद्रव्य स्वतंत्र है—ऐसा जिसने जाना हो, यानि स्वभाव की बलजबरी प्रगट हुई हो, वह जीव स्वभावदृष्टि के बल से विकार को गौण करके विकार को कर्म की बलजबरी से हुआ कहता है और उसी को ईश्वरनय होता है।

शिष्य ने पूछा है कि प्रभो ! यह आत्मा कौन है, कैसा है ? कि जिसे जानने से मेरा कल्याण हो जाये ? उसका यह उत्तर चल रहा है। यहाँ बतलाना तो है शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा; किन्तु उसे बतलाने के लिये उसके धर्मों का वर्णन किया है। जिसप्रकार—जब मुसाफिर के बालक को धायमाता दूध पिलाती है, तब वह पराधीनता से दूध पीता है; उसी प्रकार अनन्तधर्म का पिण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा, स्वभाव से तो रागादि का भोगनेवाला नहीं है, किन्तु पर्याय में रागादि भावों को पराधीनरूप से भोगता है; इसलिये ईश्वरनय से आत्मा पराधीन भोगनेवाला है—ऐसा कहा है। ईश्वरनय से पराधीनता को जाननेवाला उसी समय अपने स्वभाव से स्वाधीनता को भी समझता है। यदि अकेली पराधीनता को ही माने और स्वाधीनता को न जाने तो वह पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है; और अकेली स्वाधीनता को ही मान ले, पर्याय में पराधीनता है, उसे न जाने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। द्रव्य और पर्याय से वस्तु को यथावत् जानना चाहिये; जो द्रव्य और पर्याय दोनों से वस्तु को यथार्थरूप से जान ले, उसकी दृष्टि का बल शुद्ध द्रव्य की ओर ही ढल जाता है; किसी भी नय से देखे या प्रमाण से देखे, तथापि अंतरंग में आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र देखता है। ''स्यात्कार के वश वर्तते हुए'' ईश्वरनय से देखो या किसी भी नय से देखो, तथापि अनन्त धर्मोंवाला निज आत्मद्रव्य शुद्ध चैतन्यस्वरूप दिखाई देता है; प्रत्येक धर्म सम्पूर्ण धर्मी को (शुद्ध चैतन्य द्रव्य को) बतलाता है, और यही नयज्ञान का सच्चा फल है। नय कहीं विकल्प में अटकने के लिये नहीं है किन्तु वस्तु को साधने के लिये हैं। ईश्वरनय से आत्मा पराधीन है—ऐसा देखनेवाले को भी उस समय अंतर में शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा की दृष्टि नहीं छूटती।

अनन्त धर्मों का पिण्ड चैतन्यस्वरूप आत्मा है; उसके यह धर्म हैं। शुद्ध चैतन्यद्रव्य की

ओर उन्मुख होना ही इन समस्त धर्मों का योगफल है। प्रारम्भ में भी यही भूमिका रची थी कि आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य द्वारा व्याप्त अनन्त धर्मों के आधाररूप एक द्रव्य है। भाई! तू अंतर में अपने शुद्ध चैतन्य द्रव्य को देख; उसी के लिये यह सारी बात की है। अभी पर्याय में निर्बलता से रागादि होते हैं, इसलिये ईश्वरनय से पराधीनता का ज्ञान कराया है; किन्तु पराधीनता कहकर पर की ओर देखने के लिये नहीं कहा, किन्तु अंतर के शुद्ध चैतन्यद्रव्य की ओर उन्मुख करने के लिये कहा है। पराधीनता तो एक क्षणिक अंश है और उसी समय त्रिकालिक पूर्ण अंश शुद्ध शक्तिरूप से बिराजमान है; इसलिये अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यरूप से अंतरंग में देख;—ऐसा उपदेश का तात्पर्य है।

—इसप्रकार ३४वें ईश्वरनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

❀❀❀

[३५] अनीश्वरनय से आत्मा का वर्णन

''आत्मद्रव्य अनीश्वरनय से स्वतंत्रता भोगनेवाला है;—हिरन को स्वच्छन्दतापूर्वक स्वतंत्ररूप से फाड़ खानेवाले सिंह की भाँति।'' हे जीव! तेरा आत्मा सिंह जैसा स्वतंत्र है। ''अनीश्वर'' अर्थात् जिसके ऊपर अन्य कोई ईश्वर नहीं है—ऐसा स्वतंत्र आत्मा है। जिसप्रकार सिंह वह जंगल का राजा है, उसके ऊपर अन्य कोई नहीं है; उसी प्रकार आत्मा स्वयं अनन्त शक्ति का प्रभु है; वह अपनी प्रभुता के सिवा अन्य किसी को प्रभुता नहीं दे सकता। जिसप्रकार जंगल में सिंह, हिरन को स्वतंत्ररूप से फाड़ खाता है, वहाँ उसे अन्य किसी का ऐसा भय नहीं है कि इस हिरन के सगे-सम्बन्धी आकर मुझे मारेंगे। अरे! विशाल हाथियों के झुण्ड भी आ जायें तो भी सिंह उनसे नहीं डरता। उसी प्रकार अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना करनेवाला आत्मा सिंह जैसा निःशंक है—निर्भय है; उसे किसी कर्म का, क्षेत्र का या प्रतिकूल परीषह का ऐसा भय नहीं है कि यह मेरी प्रभुता को लूट लेगा! स्वयं स्वतंत्ररूप से आत्मानन्द का उपभोग करता है। आत्मा का स्वभाव ऐसा स्वतंत्र अनीश्वर है कि वह किसी अन्य को ईश्वरत्व नहीं देता। आत्मा की स्वतंत्रता का प्रताप अखण्डित है।

समयसार के परिशिष्ट में आत्मा की ४७ शक्तियों का वर्णन किया है, वहाँ ''प्रभुत्वशक्ति'' का वर्णन करके आत्मा की प्रभुता बतलाई है और इस प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों से आत्मा का वर्णन किया है; उनमें इस अनीश्वर नय से आत्मा की स्वतंत्रता का वर्णन करके उसकी प्रभुता

बतलाई है। स्वतंत्रता से सुशोभितपना, वह प्रभुता का लक्षण है; किन्तु अज्ञानी के अन्तर में अपनी प्रभुता नहीं जमती और पराश्रय की याचकबुद्धि दूर नहीं होती। एक भिखारिन को किसी राजा ने अपनी रानी बनाकर महल में रख लिया, किन्तु उसकी माँगने की आदत न गई; इसलिये भोजन के समय आले में भोजन रखकर भीख माँगती थी कि ''देना माँ-बाप! रोटी का टुकड़ा!''—इसप्रकार भीख माँगकर फिर खाती थी। उसी प्रकार अज्ञानी जीव भगवान के समवशरणरूपी महल में गया और भगवान ने उसे उसकी प्रभुता बताकर कहा कि हे आत्मा! तेरी प्रभुता तेरे पास है, इसलिये पराश्रय से लाभ होता है—ऐसी याचकबुद्धि छोड़ दे! किनतु उस अज्ञानी को आत्मा की स्वाधीन प्रभुता पसन्द नहीं आती और पर से तथा व्यवहार के आश्रय से कुछ लाभ होता है—ऐसी पराश्रय की बुद्धि नहीं हटती। यहाँ आचार्यदेव अनीश्वरनय से आत्मा की प्रभुता समझाते हैं कि हे भाई! तू स्वतंत्रता भोगनेवाला है; तू स्वयं ही अपना प्रभु है; तेरे आत्मा का स्वामी अन्य कोई नहीं है। तेरे आत्मा में कर्म का ईश्वरत्व तो नहीं है और तीर्थंकर भगवान की प्रभुता भी वास्तव में तेरे आत्मा में नहीं है। उनकी प्रभुता उनमें है और तेरी प्रभुता तुझमें।

आत्मा की पर्याय में परवशरूप से अर्थात् पर के आश्रय से विकार होता है, उतनी पराधीनता है; किन्तु उसी समय स्वभाव की स्वाधीन प्रभुता भी आत्मा में विद्यमान ही है। ईश्वरनय से आत्मा की परतंत्रता को जानते समय भी स्वभाव की स्वतंत्र प्रभुता का भान धर्मी को साथ ही है। पर्याय के ज्ञान के समय भी स्वभाव की प्रभुता की दृष्टि धर्मी के नहीं छूटती, और न पर्यायबुद्धि होती है। अज्ञानी, स्वभाव की प्रभुता को नहीं जानता; इसलिये पर्याय को जानते हुए उसे अकेली पर्यायबुद्धि हो जाती है; वह पूर्ण आत्मा को पर्याय जितना ही मानता है; इसलिये उसके नय या प्रमाण नहीं होते।

एक आत्मा में स्वाधीनतारूप धर्म और दूसरे में पराधीनतारूप धर्म—इसप्रकार यह धर्म पृथक्-पृथक् आत्माओं के नहीं हैं किन्तु एक ही आत्मा में यह सब धर्म विद्यमान हैं। ईश्वरनय से देखो या प्रमाणज्ञान से; किन्तु अंतरंग दृष्टि में आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही दिखाई देता है। ईश्वरनय से पराधीन पर्याय को जानते समय भी धर्मी की दृष्टि में उस पराधीनता की प्रधानता नहीं हो जाती; उसकी दृष्टि में तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप से ही आत्मा प्रकाशित होता है। आत्मा के अनन्त धर्म हैं, किन्तु आत्मा तो एक ही है। ऐसे आत्मा को प्रमाण द्वारा देखो, तथापि अंतरंग में तो शुद्ध चैतन्यमात्र दिखाई देता है।

जिस प्रकार वन का राजा सिंह, हिरन को अपनी इच्छानुसार फाड़कर खा रहा हो तो वहाँ उसे कौन रोकनेवाला है ? उसी प्रकार चैतन्यराजा भगवान आत्मा अपनी शक्ति के पुरुषार्थ से अन्तरस्वरूप में एकाग्र होरक अपने आनन्द का उपभोग करता है, वहाँ वह स्वतंत्ररूप से आनन्द का उपभोक्ता है, उसे कोई रोक नहीं सकता। ''कर्मों के आधीन होकर आत्मा परिभ्रमण करता है''—इसप्रकार ईश्वरनय से आत्मा को पराधीन कहा, वहाँ भी अकेली पराधीनता बतलाने का तात्पर्य नहीं है; किन्तु क्षणिक पराधीनता का ज्ञान कराके शुद्ध चैतन्यद्रव्य की ओर ले जाने का ही तात्पर्य है। भाई ! पर से तेरा कल्याण होता है या पर से तेरा कल्याण रुकता है—यह बुद्धि छोड़ दे। कोई दूसरा तुझे डुबा दे या उबार ले—ऐसा तेरे स्वरूप में है ही नहीं। तेरे आत्मा में ऐसी स्वतंत्र-प्रभुता है कि वह किसी दूसरे को बड़प्पन नहीं देती, कोई दूसरा उसका स्वामी नहीं है। अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्ध कार्य है, उसके कारणरूप स्वयं ही कारणपरमात्मा है; अन्य कोई उसका कारण नहीं है।—इसप्रकार अपने आत्मा के स्वतंत्र ईश्वर को तू ''अनीश्वरनय'' से जान।

वर्तमानपर्याय स्वभावोन्मुख होने पर अन्तर की आनन्दशक्ति को चीरकर आत्मा स्वयं स्वतंत्ररूप से उस आनन्द का उपभोक्ता है। जिस प्रकार सिंह स्वतंत्रतापूर्वक हिरन को फाड़ खाता है, उसी प्रकार अनंत पराक्रम का स्वामी आत्मा स्वयं अपनी स्वतंत्रता से आनन्द का उपभोक्ता है; उसके ऊपर अन्य कोई ईख्वर नहीं है, यानी आत्मा किसी के आधीन नहीं है। आनन्द के स्वाधीन उपभोग में आत्मा को विघ्न करनेवाला ब्रह्माण्ड में कोई है नहीं। जिस प्रकार सिंह अर्थात् वन का राजा वन में डरपोक हिरनों को मारकर स्वेच्छापूर्वक उनका उपभोग करता है, उसी प्रकार आत्मा अर्थात् चैतन्यराजा अंतरस्वरूप में एकाग्रता द्वारा मोह को मारकर स्वेच्छापूर्वक अपने आनन्द का उपभोक्ता है;—ऐसा उसका धर्म है। ऐसे धर्म से जो अपने आत्मा को पहिचाने, वह पर के आश्रित नहीं होता। धर्मी जानता है कि इस जगत में किसी भी द्रव्य के गुण में या पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि मेरी स्वतंत्रता को लूट सके। मैं अनीश्वर हूँ अर्थात् मेरे ऊपर अन्य कोई ईश्वर नहीं है, मैं ही अपने घर का बड़ा ईश्वर हूँ। मुझसे बड़ा इस जगत में ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो मेरे स्वाधीन स्वभाव को लूटकर मुझे पराधीन कर दे। देवाधिदेव तीर्थंकर परमात्मा को आत्मा का केवलज्ञानादि पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो गया है, इसलिये वे परमेश्वर हैं; किन्तु उनकी ईश्वरता उनके आत्मा में है, मुझमें उनकी ईश्वरता नहीं है। शक्तिरूप से तीर्थंकर भगवान और मेरा आत्मा दोनों समान हैं; मेरे

द्रव्य में भी तीर्थंकर भगवान जैसा ही ईश्वरत्व स्वभावरूप से भरपूर है। विनय से धर्मी भी ऐसा कहते हैं कि अहो! तीर्थंकर परमात्मा हमारे नाथ हैं; हमें तीर्थंकर भगवान का आश्रय है, इसलिये क्या चिन्ता? किन्तु उसी समय अन्तर में भान वर्त रहा है कि परमार्थ से हमारा भगवान तो हमारा आत्मा ही है। वास्तव में हमारा आत्मा स्वयं ही हमारा स्वामी है;—इस प्रकार निश्चय अनुपचार स्वरूप के भानसहित, भगवान को रक्षक कहना, वह उपचार कथन है। हे वीतराग चैतन्यमूर्ति आत्मा! मैंने अन्तरदृष्टि से तुझे देखा और अपना स्वामी स्वीकार किया; महान रक्षक ऐसे निज चैतन्य परमेश्वर को दृष्टि में धारण किया, वहाँ मेरा दु:ख और दुर्भाग्य दूर हो गया और आत्मा की आनन्द सम्पदा से भेंट हुई।—ऐसी दृष्टिपूर्वक व्यवहारविनय के विकल्प के समय भगवान को रक्षक कहे तो वहाँ ईश्वरनय लागू होता है। किन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्वामी है—ऐसा यदि मानें तो द्रव्य की स्वतंत्रता का भान नहीं रहता; वहाँ तो एकान्त हो जाता है; इसलिये वहाँ नय भी लागू नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा के द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों स्वतंत्र हैं;—ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति करके शुद्ध चैतन्यद्रव्य का अनुभव करना सर्व नयों का फल है।

जिसप्रकार जंगल में हिरन को फाड़ खानेवाला सिंह किसी के आधीन नहीं है; उसी प्रकार स्वभावोन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करनेवाला आत्मा किसी के आधीन नहीं है; काल के, कर्म के और निमित्तों के आधीन नहीं है, किन्तु स्वाधीनरूप से अपना शुद्धभाव का उपभोग करनेवाला है। इसप्रकार अनीश्वरनय से आत्मा स्वयं ही अपना नाथ है; अन्य कोई उसका स्वामी नहीं है।

प्रश्न :—स्त्री का स्वामी तो उसका पति होता है, इसलिये उसे यह बात कैसे लागू हो सकती है?

उत्तर :—अरे भाई! सभी आत्माओं को यह बात लागू होती है। स्वभाव से समस्त आत्मा स्वाधीन चैतन्यमूर्ति हैं। स्त्री और पुरुष तो मात्र शरीर हैं, किन्तु स्त्री-शरीर में विद्यमान आत्मा भी अपने स्वभाव का ऐसा ही भान कर सकता है कि अनीश्वरनय से मैं स्वाधीन हूँ, मेरा कोई स्वामी नहीं है। राग होता है, इसलिये निमित्त से दूसरे को स्वामी कहा जाता है, किन्तु उससमय भी अंतर की दृष्टि में तो निरन्तर प्रतीति वर्तती है कि मैं स्वयं चैतन्यपरमेश्वर हूँ, मेरे आत्मा के सिवा अन्य कोई मेरा ईश्वर या स्वामी नहीं है। अरे! आठ वर्ष की राजकुमारी को सम्यग्दर्शन होने पर वह भी ऐसा जानती है कि मैं स्त्री नहीं हूँ किन्तु शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा हूँ, मेरी प्रभुता मुझमें है; बाह्य में

दूसरा कोई मेरे आत्मा का स्वामी नहीं है। उस सम्यग्दृष्टि बालिका को ऐसा भान होने पर भी वह विवाह कराती है और पति को स्वामी कहकर बुलाती है, तथापि अपने आत्मा के ईश्वरत्व का भान उसके अन्तर में से दूर नहीं होता।

पुनश्च, कोई सेठ मिथ्यादृष्टि हो और नौकर सम्यक्त्वी हो, अथवा राजा मिथ्यादृष्टि हो और मंत्री सम्यग्दृष्टि हो; तो वहाँ सेठ या राजा से वह सम्यग्दृष्टि ऐसा भी कहता है कि—'आप हमारे स्वामी हो।' पर्याय में राग होने से इतनी पराधीनता का वर्ताव धर्मी जानता है किन्तु उसी समय अंतरदृष्टि में आत्मा की स्वाधीन प्रभुता का भी भान वर्तता है; ईश्वरनय के समय अनीश्वरनय की अपेक्षा भी साथ ही है। अपने द्रव्यस्वभाव की त्रैकालिक ईश्वरता को चूके बिना पर्याय की पराधीनता जितना ईश्वरत्व पर को देता है, वहाँ ईश्वरनय सच्चा है। किन्तु अपने स्वभाव के ईश्वरत्व को भूलकर जो मात्र पर को ही ईश्वरता देता है, उसके ईश्वरनय भी सच्चा नहीं है; वह तो पर्याय में ही मूढ़ होने से मिथ्यादृष्टि है। स्वभाव की ईश्वरता को चूककर जिसने पर को ईश्वरत्व दिया, उसे स्वभावोन्मुख होना तो रहा ही नहीं। प्रारंभ में आचार्यदेव ने कहा था कि श्रुतज्ञान प्रमाण से स्वानुभव द्वारा आत्मा ज्ञात होता है,—इसप्रकार जो आत्मा को जाने, उसी के सम्यक्नय होते हैं;—क्योंकि नय तो श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश है। धर्मी वस्तु के ज्ञान बिना उसके धर्म का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। अन्त में भी आचार्यदेव कहेंगे कि स्याद्वादानुसार नय से जाने या प्रमाण से, तथापि जीव अंतर में अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र देखता ही है। अन्तर्मुख दृष्टि करके जिसने अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव किया, उसने ईश्वर का साक्षात्कार किया है। अपना शुद्ध आत्मा ही चैतन्यपरमेश्वर है; स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से उसका अनुभव करना ही ईश्वर का साक्षात्कार है; इसके सिवा अन्य कोई ईश्वर दर्शन देने नहीं आता।

इससमय महाविदेहक्षेत्र में सीमंधर परमात्मा साक्षात् विराजमान हैं, उनके समवशरण की सभा में गणधर और संत-मुनि आदि विराजमान हैं। वहाँ गणधरदेव भी भक्तिपूर्वक भगवान से ऐसा कहते हैं कि—"हे नाथ! हे प्रभो! आप हमारे तीर्थपति हो; चारों तीर्थ के आप नायक हैं, आप ही हमारे ईश्वर हैं!" उससमय उनके अंतर में शुद्धचैतन्यस्वभाव पर ही दृष्टि है। मैं तो अनन्त धर्म का पिण्ड शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ, मेरा आत्मा स्वाधीन है; उसका कोई नाथ नहीं है-ऐसा अन्तरभान ईश्वरनय के समय भी धर्मात्मा के वर्तता है।

जो प्राप्त हो चुका है, उसकी रक्षा करे और जो अप्राप्य है, उसकी प्राप्ति करा दे;—इसप्रकार

जो योग्य-क्षेम का कर्ता हो उसे ''नाथ'' कहा जाता है। आत्मा अपने स्वाश्रय से प्राप्त किये हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि की स्वभावदृष्टि से स्वयं ही रक्षा करता है; और जो अप्राप्य ऐसे सम्यक्-चारित्र-वीतरागता-केवलज्ञानादि हैं, उन्हें स्वयं ही अंतर्स्वभाव में एकाग्र होकर प्राप्त करता है।—इसप्रकार आत्मा स्वयं ही अपने योग्य क्षेत्र का कर्ता है, इसलिये वह स्वयं ही अपना नाथ है। भक्ति के कारण तीर्थंकर भगवान के आत्मा को नाथ कहना, वह विनय के निमित्त से कथन है। स्याद्वादानुसार चाहे जिस नय का कथन हो, उसमें कोई विरोध नहीं आता। चाहे जिस नय से या प्रमाण से देखने पर स्याद्वादी धर्मात्मा को अपना आत्मा शुद्धचैतन्यमात्रस्वरूप ही दिखाई देता है। अंतर्दृष्टि करके जो ऐसे आत्मा को देखता है, उसी ने आत्मा को पहिचाना कहा जायेगा।

—इसप्रकार ३५ वें अनीश्वरनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

तो चैतन्य की ही शरण लो....

यदि मरण से बचना हो... और आत्म-शांति प्राप्त करना हो...

जीव इस देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप है; वह कभी नया उत्पन्न नहीं हुआ है, किन्तु अनादि से है। वह अनादिकाल से अपने अज्ञान के कारण संसार परिभ्रमण में जन्म-मरण कर रहा है। उस जन्म-मरण से छूटकर मोक्ष होने का उपाय बतलाते हुए आचार्य-भगवान कहते हैं कि हे जीवो! मरण से बचना हो तो उसका उपाय वीतरागी संयम है; और वह संयम, चैतन्यमूर्ति भगवान के भान बिना प्रगट नहीं होता। इसलिये पहले आत्मा को पहिचानो; वही एक शरणभूत है। सर्वज्ञभगवान ने जैसा चैतन्यस्वभाव कहा है, उसी को शरणभूत जानकर उसकी आराधना करना, वह मोक्ष का उपाय है। इसलिये कहा है कि:—

'सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी
आराध्य! आराध्य! प्रभाव आणी;
अनाथ एकान्त सनाथ थाशे
एना विना कोई न बाँह्य स्हाशे।' *(श्रीमद् राजचन्द्र)*

हे जीव! सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा का जैसा स्वभाव कहा है, उसी को शरणभूत जानकर उसकी आराधना कर... आराधना कर! उसके सिवा जगत में अन्य कोई शरणभूत नहीं है। आत्मा के भान बिना एकान्त अनाथपना है, वह दूर होकर चैतन्य की शरण में ही तेरी सनाथता होगी... इसलिये हे भाई! आत्मा की पहिचान करके उसकी शरण ले!

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान और उसमें लीनतारूप धर्म ही जीवों को शरणभूत है, इसके सिवा अन्य कोई शरण नहीं है। स्वर्ग के इन्द्र को भी चैतन्य-शरण के सिवा दूसरा कोई शरण नहीं है। चारों ओर हजारों देवों की सेना अंगरक्षक बनकर खड़ी हो, वह भी मृत्यु के समय काम नहीं आती। वे इन्द्र तो सम्यग्दृष्टि हैं, एकावतारी होते हैं, अंतर में आत्मा की शरण का उन्हें भान होता है। देह त्याग का प्रसंग निकट आने पर शाश्वत् जिनप्रतिमा की शरण में जाकर, उनके चरण-कमलों पर हाथ रखकर कहते हैं कि हे नाथ! हे सर्वज्ञदेव! तुम्हारा कहा हुआ वीतरागी धर्म ही मुझे शरणभूत है। हे प्रभो! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो है, अब मनुष्यभव में चारित्र की आराधना करके हम इस भवभ्रमण का नाश करेंगे... इसप्रकार आराधना की भावना भाते-भाते शांतिपूर्वक देहत्याग करके मनुष्ययोनि में जन्म धारण करते हैं और वहाँ चैतन्य पर दृष्टि लगाकर... लीन लोकर... नग्न दिगम्बर मुनिदशा धारण करते हैं और फिर अंतर में ऐसा त्राटक (ध्यान की एकाग्रता) प्रगट करते हैं कि अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। अनन्त तीर्थंकर, इन्द्र, चक्रवर्ती इस चैतन्यशरण को ही अंगीकार करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। इसलिये उसका भान करके उसी की शरण लेने योग्य है। वह एक ही मृत्यु से बचने और मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है।

अपूर्व सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी आत्मा में लीन होकर चारित्रदशा प्रगट करना, वह मोक्ष का साक्षात् कारण है। इसलिये आचार्य भगवान कहते हैं कि :—

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि, द्रव्यंमिथो द्वयमिथो द्रव्यमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥१२॥

हे धर्मी जीवो! हे मोक्षार्थी जीवो! यदि आत्मशांति चाहते हो और भवभ्रमण से मुक्त होना हो

तो शुद्ध द्रव्य का आश्रय करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो। चारित्र, द्रव्यानुसार होता है अर्थात् जितनी शक्ति लगाकर द्रव्य में लीन हो, उतना ही चारित्र होता है; जितना द्रव्य का आश्रय करे, उतनी शांति प्रगट होती है। इसलिये प्रथम शुद्ध द्रव्य को पहिचानकर उसी के आश्रय से लीनता करो! पहले शुद्ध द्रव्य की पहिचान तो होना ही चाहिये। शुद्ध द्रव्य पर जिसकी दृष्टि है, वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन, चह चारित्र का मूल है। चैतन्य चिन्तामणिरूप शुद्ध आत्मा में दृष्टि और लीनता करके उसकी जितनी भावना करे, उतना फल प्रगट होता है.. भगवान चैतन्यचिन्तामणि अनादि-अनन्त परिपूर्ण है। उसकी भावना करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

देहादि का संयोग तो अनन्तबार आया और गया, वह कहीं आत्मा की वस्तु नहीं है; और पुण्य-पाप भी अनादि से किये हैं, किन्तु उनरूप आत्मा नहीं हो गया है। यदि पुण्य के समय पुण्यरूप ही हो जाता हो तो फिर बदलकर पाप कहाँ से आ गया? पाप-पुण्य दोनों का नाश हो जाने पर भी आत्मा ज्यों का त्यों अखण्ड चैतन्यमूर्ति रहता है। ऐसे शुद्ध चैतन्यद्रव्य का आश्रय करने से चारित्र प्रगट होता है; और जितनी वीतरागी चारित्रदशा प्रगट हुई, उसमें द्रव्य अभेद हो जाता है। जितना अंतर का आश्रय करे, उतना चारित्र प्रगट हो, और जितना चारित्र, उतनी द्रव्य की शुद्धता प्रगट होती है। इसलिये हे मुमुक्षुओं! या तो शुद्ध द्रव्य का आश्रय करके, अथवा तो वीतरागी चारित्र का आश्रय करके मोक्षमार्ग में आरोहण करो!

जिन्होंने अपने चैतन्यतत्त्व को जाना है और अपने ज्ञान को चैतन्यतत्त्व की भावना में लीन किया है—ऐसे संत-मुनिवर अंतर्स्वभाव के संयम में सावधान है और उनका वह वीतरागी संयम, दुःखमय ऐसे मरण के नाश का कारण है। यातनाशील जो यम है, उसका संयम नाश करता है, अर्थात् मुनिवरों का संयम मरण का घात करनेवाला है और जन्म-मरण रहित ऐसी सिद्धदशा का कारण है। जिसके संयम प्रगट हो, उसके जन्म-मरण का नाश हो जाता है। इसलिये हे जीव! यदि तुझे शांति की आवश्यकता हो, जन्म-मरण की यातना से छूटना हो तो ऐसी मुनिदशा प्रगट करना ही होगी। यति-मुनिवर अपने संयम में प्रयत्नशील वर्तते हुए यातनामय यम का नाश कर देते हैं। जो सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चैतन्य की शरण लेकर वीतरागी संयम प्रगट करते हैं, उन्हें पुनः दूसरी माता के उदर में अवतार नहीं लेना पड़ता; उनके दुःखमय मरण का नाश होकर मुक्ति हो जाती है। इसलिये—

हे जीवो!

यदि मरण से चना हो... और आत्मा की शांति चाहिये हो तो चैतन्य की शरण लो!

[श्री नियमसार गाथा १०३ के श्लोकों के प्रवचन से]

र...त्न...त्र...य

त्रिभुवन पूज्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय ही सिद्धान्त का सर्वस्व है और वही त्रिकाल के मोक्षगामी जीवों को मुक्ति का कारण है; यह बात ज्ञानार्णव में श्री शुभचन्द्राचार्य कहते हैं:—

❀ यह रत्नत्रय ही सिद्धान्त का सर्वस्व है तथा वही मुक्ति का कारण है और जीवों का हित वही है तथा वही प्रधानपद है।

❀ जो संयमी मुनि पूर्वकाल में मोक्ष गये हैं; वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जायेंगे वे वास्तव में इस अखण्डित रत्नत्रय की सम्यक् प्रकार से आराधना करके ही गये हैं, जा रहे हैं और जायेंगे।

❀ इस सम्यक् रत्नत्रय को प्राप्त किये बिना करोड़ों-अरबों जन्म धारण करने पर भी कोई जीव साक्षात् मोक्षलक्ष्मी के मुखकमल का अवलोकन नहीं कर सकता।

[ज्ञानार्णव से]

आत्मा का अद्‌भुत वैभव

अहो ! आत्मा का यह सहज अद्‌भुत वैभव है कि—

एक ओर से देखने पर वह अनेकता को धारण करता है।

एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है और एक ओर से देखने पर सदैव उसका उदय होने से ध्रुव है।

एक ओर से देखने पर परम-विस्तृत है और एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों द्वारा ही धारण किया गया है।

—ऐसा अनंत धर्म के वैभववाला आत्मस्वभाव है, वह अज्ञानियों के ज्ञान में तो आश्चर्य उत्पन्न करता है कि यह तो असम्भवित जैसी बात है ! ज्ञानियों को यद्यपि वस्तुस्वभाव में आश्चर्य नहीं है, तथापि आत्मा के अद्‌भुत वैभव को जानने पर उन्हें ऐसा परम आनन्द होता है जो पहले कभी न हुआ हो, और उससे आश्चर्य भी होता है।

और कैसा है आत्मा का वैभव ?

एक ओर से देखने पर कषायों का क्लेश दिखाई देता है और एक ओर से देखने पर शांति है, एक ओर से देखने पर भव की पीड़ा दिखाई देती है और एक ओर से देखने पर मुक्ति भी स्पर्श करती है; एक ओर से देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान हैं और एक ओर से देखने पर मात्र एक चैतन्य ही शोभायमान है।

—ऐसी आत्मा की अद्‌भुत से भी अद्‌भुत स्वभावमहिमा जयवन्त प्रवर्तमान है।

स्वभाव की ऐसी महिमा जानने पर आश्चर्य होता है कि-अहो ! जिनवचन महान उपकारी हैं; वस्तु के यथार्थ स्वभाव को बतलानेवाले हैं; आत्मा का अद्‌भुत वैभव दिखानेवाले हैं ! मैंने वस्तुस्वरूप को जाने बिना अनादिकाल खो दिया; अपने अद्‌भुत वैभव को नहीं जाना... निजवैभव को भूलकर अभीतक पर में मोहित रहा ! अब श्रीगुरु ने करुणा करके मुझे अपने आत्मा का अद्‌भुत वैभव बतलाया।—इसप्रकार सुपात्र जीव आश्चर्यपूर्वक निजवैभव की महिमा लाकर सम्यक्‌श्रद्धा करता है।

(—देखो, समयसार कलश २७३-७४)

सम्यक्त्वी का स्वाद

सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा का अनुभव होता है। जैसा सिद्ध भगवान को अनुभव हो, वैसा ही चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वी को होता है; सिद्ध को पूर्ण अनुभव होता है और सम्यक्त्वी को अंशतः अनुभव होता है, किन्तु जाति तो वही है। सम्यक्त्वी आनन्द-सागर के अमृत का अपूर्व स्वाद ले रहा है; आनन्द के स्रोत में निमग्न है।

जिसे सच्ची श्रद्धा प्रगट हो, उसका सारा अंतर पलट जाता है, हृदयपरिवर्तन हो जाता है; अंतर में उथल-पुथल मच जाती है; अँध से सूझता बन जाता है। जिसके अन्तर की ज्यांति जगी, उसकी दशा की दिशा एकदम बदल जाती है; जिसका अन्तर बदले, उसे किसी से पूछने नहीं जाना पड़ता; उसका अंतर ललकार मारकर साक्षी देता है कि अब हम प्रभु के मार्ग पर चल रहे हैं; सिद्ध का संदेश आ चुका है; अब अल्पकाल में सिद्ध हो जायेंगे; उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

[— पूज्य बहिनश्रीबहिन द्वारा लिखित समयसार-प्रवचनों से]

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी